21वीं शताब्दी का रंगमंच :

सरबजीत कौर

शोधार्थी

हिन्दी–विभाग

कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र (हरियाणा)

21वीं शताब्दी अपने आप में एक विशिष्ट सदी है । जो निरंतर प्रगतिशील एवं परिवर्तनशील के पथ पर अग्रसर है । इस युग का साहित्य में विशेष स्थान है । वहीं नवीन आविष्कारों से नाटकों की मूलभूत अवधारणा में भी क्रांतिकारी परिवर्तन हुए हैं । नवीन मंच अभिकल्पन, प्रयोगशील रंग अन्वेषण, शब्द रस के अनुसंधन, आधुनिक प्रासंगिकता में संचार के प्रचार प्रसार के महाविस्फोट का युग है । नाटक और रंगमंच ग्लोबल मनुष्य और उसकी अस्मिता के केन्द्र में है । वैश्विक परिदृश्य हमारे भीतर पसर गया है । "बाजारवाद मन की रंगभूमि को बंजर बना रहा है । शब्द बंधुआ हो गये हैं । वैचारिक स्वराज्य मरणासन्न एवं बंधक हैं । सत्ता का गणित चेहरे विहीन समाज की ओर धकेल रहा है" ।[1] नाटकों की कथावस्तु में यथार्थता का गुण आ गया है ।जैसे प्रसाद युग में आदर्शवादी कथावस्तु होती थी । वर्तमान में वह बदलकर यथार्थवादी हो गयी है जो मानव जीवन के सर्वाधिक करीब है । आधे अधूरे (मोहन राकेश) 21वीं शताब्दी के पहले दशक में जहाँ नई पीढ़ी के नाट्क सृजकों ने अपनी उपस्थिति दर्ज कराई है वहीं नवीन आविष्कारों से नाटकों की मूलभूत अवधारणा में क्रांतिकारी परिवर्तन हुए है । पात्रों के संवादों और अभिनय में परिवर्तन आया है । पात्रों के परिधान, अलंकार, भाव–भंगिमा आदि का प्रकटीकरण रंगमंच पर अच्छी प्रकार से संभव है । "जिस प्रकार रंगमंच को जीवित और सक्रिय रखने के लिए नाटक की निरंतर रचना होती है, उसी प्रकार रंगमंच सजीव होने से समर्थ लेखक नाटक को अपनी अनुभूति के व्यापक और विस्तृत से प्रेषण का माध्यम पाता है और सहज ही उसका उपयोग करने को उन्मुख होता है । रंगमंच सक्रिय होने से लेखक का नाट्यात्मक अनुभूति से निरंतर साक्षात्कार होता रहता है जिससे नाटककार के रूप में उसके सृजनात्मक व्यक्तित्त्व के निर्माण और विकास में सहायता मिलती है ।"[2] अर्थात् नाटक की सर्जना रंगमंच और मंच की सृजना नाटक (रंग) के लिए अति आवश्यक मानी गई है ।

---

1. वीणा गौतम : रंगानुशासन : प्रायोगिक नवोन्मेष नाटक एवं रंगमंच : अन्तसम्बंध, पृ॰ 294
2. नेमिचन्द्र जैन : रंगदर्शन, पृ॰ 32

21वीं शताब्दी में सभी विषयों पर जैसे पौराणिक, ऐतिहासिक, सामाजिक, राजनैतिक, मनो वैज्ञानिक नाटक लिखे जा रहें है । लेकिन वर्तमान में इसी दृष्टि से नाट्यविभाजन न तो सटीक है न तर्क संगत और न ही उचित है । रंगनाटकों का काल विभिन्न भंगिमाओं के अनुरूप अपनी मूल भूमि को पकड़े हुए अपना निरन्तर प्रसार कर रहा है और उसकी रंग प्रक्रिया जीवन के शब्दों को खरोंच रही है ।

साम्प्रदायिकता का आतंक और उग्रवाद की पनाहगार में विदेशी चैनलों का प्रचार–प्रसार हो रहा है यह फैलाव हमारी सांस्कृतिक को विदूषित कर रहा है । आत्मीय रिश्तों को तनाव, घुटन, कुंठाओं अस्वजस्य प्रतिस्पर्धाओं ने अभिशप्त बना दिया है चारों तरफ शीशे का एक धारा पथ है जिस पर फिसलन ही फिसलन है एक तरफ नागमंडल है दूसरी तरफ अग्निमुण्डा । फिर भी मानव जिजीविषा अदम्य जीवन के बल पर लिख रहा है । संघर्षो की रंगभूमि पर शब्दों के सहारे इस बधिक परिवेश को न केवल काट रही है अपितु जीवन के मंच पर उन रंगों को भी समेट रही है जो बदरंग होते जा रहे हैं नयी दृष्टि और चिन्तन के सहारे इन्हें वाणी देनी है जिससे अमर्त्य जीवन का नाटक गतिशील रहे और हम अपनी–अपनी भूमिकाओं में अपने लक्ष्यों को प्राप्त कर सकें ।

21वीं शताब्दी भूमण्डलीकरण वैश्वीकरण बाजारवाद के नाम से प्रसिद्ध है । इस शताब्दी में तकनीकी, औद्योगिकी, सूचना–संचार–प्रौद्योगिकी का चलन आरम्भ हुआ है । सारा विश्व एक (उंसस टपससंहम) बनने की प्रक्रिया से चल रहा है । एक ओर जहां ये सब सफल प्रगतिवादी क्रान्ति हो रही है वहीं एक दुःखदायी दृश्य विश्व विनाश लीलाकारी है । हर बड़ा देश अपनी पूंजीवादी व्यवस्था के कारण दूसरे पर हावी होकर उसे अपने अधीन कर लेना चाहता है ।

भारतवर्ष तो अनादिकाल से ही वैश्वीकरण का पक्षधर रहा है । भारतीय संस्कृति वसुधैव कुटुम्बकम की है । भगवान कृष्ण ने अर्जुन को गीता का उपदेश देते समय यही कहा था –"वसुधैवकुटुम्बकम" अर्थात् यह सम्पूर्ण वसुधा मेरा कुटम्ब है । बहुजन हिताय बहुजन सुखाय की संस्कृति के पुष्ट भारत वैश्वीकरण का अद्भुत उदाहरण है लेकिन यहाँयह स्पष्ट करना अनिवार्य है कि वर्तमान वैश्वीकरण – विश्व बंधुत्व नहीं, विश्व बाजार का पर्याय है, बाजारवाद ने सम्पूर्ण विश्व को खरीद–फरोख्त की मंडी बना दिया है । जो अपसंस्कृति है ।

इक्कीसवीं सदी के द्वार खटखटाते हुए जिन नाटकों और प्रस्तुतियों की चर्चा रही है उनमें प्रमुख रंग नाटक हैं – नरेन्द्र कोहली के 'हत्यारे', 'नींद आने तक', ज्ञानदेव अग्निहोत्री का 'चिराग

जल उठा', कणाद् ऋषि भटनागर के 'जनता के सेवक', 'अमर ज्योति', गोविन्द चातक का 'बांसुरी बजती रही', सुदर्शन चोपड़ा का 'अपनी पहचान', सर्वेश्वर दयाल सक्सेना का 'हवालात', मुद्राराक्षस का 'डाकू', कृष्ण बलदेव वैद का 'भूख आग है', बी. एम. शाह का 'थैंक यू बाबा लोचनदास आदि । प्रयोगिक रंग दृष्टि से इनमें से सबसे ज्यादा मुख्य नाटक रहे 'डाकू' और 'भूखआग' है । इनके प्रदर्शन और रंग प्रयोग आज भी जारी है । श्री राम सेंटर, रंगमंडल और राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय रंगमंडल (रा॰ ना॰ वि॰ रंगमंडल), (श्रीराम सेंटर), (नया थियेटर) (संभव नाट्य संस्था), (क्षितिज थियेटर ग्रुप), (थियेटर वाला ग्रुप) ने इन रंग प्रस्तुतियों में हर बार नए मुहावरों को आजमाया ।

पूरे देश में जहाँ कहीं नाट्क मंथन तथा मंचन हो रहा है – तो 21वीं शताब्दी के पहले वर्ष मात्र दिल्ली की रंग गतिविधियों पर नजर डालने पर हिन्दी रंगमंच की नब्ज को टटोली जा सकती है रंगजगत से जुड़े सभी रंगकर्मियों की नाट्य सक्रियता ने यह साबित कर दिया है कि रंगानुशासन में रहकर रंगमंच को ऊँचाइयों पर ले जाया जा सकता है । अगले कई वर्षों में चाहे वे रचनाकर हो या अभिनेता, निर्देशक हो या अन्य रंगकर्मी सभी ने मिलकर अपनी नाट्य प्रस्तुतियों से नया दर्शक वर्ग बनाया है । इसका मुख्य कारण यह है कि अधिक–से–अधिक संख्या में ऐसे नाटकों का मंथन हुआ होता है जिन्होंने जनमानस पर सीधे असर किया है जिस प्रकार "डाकू" नाटक की प्रस्तुति ने नाट्यविधान के अनपढ़पन को समाप्त करने के लिए निर्देशक सतीश आनन्द ने नौटंकी के शिल्प को बहुत चतुराई के साथ अपनाया और 'भूख आग' के निर्देशक राम गोपाल बजाजा ने 'भूख' और 'परिवर्तन' जैसे गम्भीर विषयों और उसके द्वन्द्वों को उभारने के लिए नाट्य फ्रेम के अनुशासन को तोड़कर बीच में अचानक पॉज जैसी युक्तियों का सहारा लिया ।"[3]

रंग सृजन की इस रंगचर्चा में रंगानुशासन की रंग ऊर्जा सामने आई है, अनेक प्रकाशित नाटकों और नाट्यलेखों की रंगमंच प्रस्तुतियाँ अपना आलोक बिखेरती है । "इन नाट्य प्रस्तुतियों में मानसिक यंत्रनाओं के अनेक द्वीप उभरे कहीं दलिद्धर यथार्थ मानस को खरोंचता रहा जिसमें व्यक्त दैन्य जीवन एक गहरा भँवर बन गया और व्यक्ति एक जीवन में तब्दील हो गया, कहीं ऐतिहासिक –पौराणिक पात्रों के माध्यम से मानवीयता के संकट के विरूद्ध संघर्ष की भूमि तैयार हुई तो वहीं त्रासदी के विविध सन्दर्भो का कोलाज उभर कर आया आदि......ऐसी समकालीन विद्रूपताओं को समेट

---

[3]. डॉ॰ वीणा गौतम : रंगानुशासन : प्रायोगिक नवोन्मष एवं रंगमंच ! अन्तसम्बन्ध पृ॰ 296

कर नाट्य प्रस्तुतियों के अपनी यात्रा का क्रम जारी रखा ।"[4] इस यात्रा क्रम में 2002–03 और वर्ष 04 के वाक्य सम्मिलित है जैसे नागबोडस का 'अम्मा तुझे सलाम, असगर वजाहत के वीरगति, जिस लाहोरे – और 'अकी', स्वदेश दीपक के कोर्ट मार्शल; सबसे उदास कविता, लक्ष्मीनारायण लाल का सूर्य–मुख, बलराज पण्डित का पाँचवां स्वार, नरेन्द्र मोहन 'कहे कबीर सुनो भाई साधो' रामेश्वरप्रेम के 'चारपाई', भीष्म साहनी के 'मुआवजे' 'कविरा खड़ा बाजार में', सुशील कुमार सिह 'सिंहासन खाली है', 'चारों यारों की यार', जी. पी. देशपांडे का 'चाणक्य विष्णुगुप्त' मजयशुक्ल का 'ताजमहल का टेंडर' महिन्द्र गोरे का 'जानेमन' आदि इस यात्रा के अन्तिम चरण में वर्ष 2005–06 और वर्ष 07 के आरम्भ में होने वाली प्रमुख नाट्य प्रस्तुतियाँ थी– मोहन महर्षि का 'आइंस्टीन नरेन्द्र मोहन का 'जिन्ना' नन्द किशोर आचार्य का 'जिल्ले सुब्हानी' 'बापू', रवीन्द्र भारती का 'जनवासा', ऋषिकेश सुलभ का 'बटोही' संजय गौतम का 'अंधा युग' आदि नाट्य सम्मिलित है ।

वर्ष 2006 में पत्रकार, नाटककार गौतम चटर्जी का दस नाटकों का एक संग्रह दशरूपक भी चर्चा के केन्द्र में रहा । यह नाट्य संग्रह भरतमुनि के नाट्यशास्त्र की अवधारणा से अभिप्रेरित होते हुए भी उस से मुक्त है । इन नाटकों में रस और भाव के माध्यम से अभिनेता रंगमंच पर "तीनों लोकों का 'भावानुकीर्तन' करता है अर्थात सत्त्व, रजस, तमस् से निर्मित अपनी चित्तवृति से अभिनय को प्रकट करता है और युक्त इस अर्थ में कि यह उत्तर आधुनिक 'दशरूपक' पुनर्जन्म, मृत्यु, प्रेम और यौनवृति आदि के सन्दर्भ में अवचेतन की गहराइयों की चाह लेने के साथ ही समकालीन सामाजिक रूझानों, मीडिया और स्वयं रंगकर्म के अंधेरे नेपथ्य को मंच का प्रकाश देता है ।"[5] 21वीं शताब्दी वैश्वीकरण की शताब्दी है वैश्वीकरण की प्रक्रयाएं निरन्तर जारी होने के साथ–साथ तकनीक प्रगति को नया रूप प्रदान कर रही है इस प्रगति में मीडिया का अहम योगदान है । मीडिया वैश्वीकरण के लिए विज्ञापन का कार्य करती है ।

वर्तमान रंगमंच की प्रवृतियों का अवलोकन करें तो भी ज्ञात होता है कि 21वीं शताब्दी में देश के प्रत्येक क्षेत्र में प्रगति हो रही है । नाटक और रंगमंच अपनी सशक्त अभिव्यक्ति के विशेष गुण के कारण विकसित हुए है । हिन्दी रंगमंच अपनी क्षमताओं के अनुरूप उन्नति करने में समर्थ रहा है । रंगमंच अब प्रत्येक प्रदेश में अपनी स्थानीयता को लेकर विकसित हो रहा है । ऋषीकेश सुलभ ने भी रंगमंच के स्थानीय होने पर बल दिया है । उनका विचार है कि – "हमारा रंगमंच भारत का

---

4. वीणा गोतम – रंगानुशासन : प्रयोगिक नदोन्मेष नाटक एवं रंगमंच : अन्तरसम्बन्धि पृ॰ 297

5. वीणा गौतम : प्रयोगिक नवोन्मष नाटक एवं रंगमंच ! अन्तःसम्बन्ध, पृ॰ 299

रंगमंच तभी हो सकता है जब वह स्थानीय हो । रंगमंच हमेशा स्थानीय होता है । वह स्थानीयता ही उसको व्यापकता प्रदान करती है ।[6]

निष्कर्ष :

21वीं शताब्दी के प्रारम्भ में ही कम्पयूटर एवं सूचना प्रविधि का जिस तेजी से विकास होने लगा है, उसे देखकर बहुत से लोग आशंका व्यक्त करने लगे है कि ऐसी परिस्थिति में रंगमंच टिक पाना असंभव है, परंतु वह विवाद नया नहीं है । सिनेमा एवं टेलीविजन के आगमन के समय भी ऐसी ही बातें कही सुनी जाती थी । परिणाम यह देखा जा रहा है कि अपने सौ वर्ष पूरा करते–करते सिनेमा काल–कवलित हो चुका है तथा टेलीविजन अधिकांशतः घरों में मात्र शो–पीस बनकर रह गया है । उसे भी देखकर दर्शन ऊब चुके है, पर नाटक के दर्शक अभी भी मौजूद है । यदि भविष्य में भी नाटक को जीवंत रखना है तो आवश्यकता इस बात की है कि उसे जनकांक्षाओं आंदोलनों से बराबर जोड़कर रखा जाए ।

[6]. नटरंग अंक– 85, जून 2010, पृ॰ 44